अर्थ पहले आते हैं शब्द बाद में

नरेश सक्सेना

लगभग 15 वर्ष पुरानी बात है। लखनऊ में बुद्ध के जीवन पर एक नाटक मंचित हो रहा है। सभी पात्र हिन्दी में अपने संवाद बोल रहे हैं, लेकिन उनके बीच फिनलैण्ड से आई एक विदेशी लड़की भी अभिनय कर रही है। वह अपनी मातृभाषा यानी फिनिश में बोल रही है। दर्शक उसकी भाषा नहीं जानते थे फिर भी वे उसकी हर बात साफ समझ रहे हैं। दृश्य के पूरा होने पर हम देखते हैं कि अनेक दर्शक अपने आँसू पोंछ रहे हैं।

नाटक के अन्त में दर्शक कह रहे थे कि सबसे अच्छा संप्रेषण, उसी अभिनेत्री का था। यदि इस घटना का गवाह मैं स्वयं न होता तो शायद यह बात मानता ही नहीं।

यह नाटक मेरा लिखा हुआ है – "हर क्षण विदा है।" और इसे सूर्य मोहन कुलश्रेष्ठ जो इन दिनों भारतेन्दु नाट्य अकादमी के निदेशक हैं, ने निर्देशित किया था।

वह विदेशी लड़की थी, मिया टरमा जो फिनलैण्ड के राष्ट्रीय रंग मण्डल की सदस्य थी। उन दिनों वह लखनऊ आई हुई थी।

जो भूमिका वह कर रही थी वह, कृषा गौतमी नाम की एक गरीब स्त्री की थी। यह बुद्ध के समय की एक प्रसिद्ध घटना है। इस स्त्री का बच्चा साँप के काटने से मर जाता है। लोगों की सलाह पर वह अपने मृत शिशु को लेकर बुद्ध के पास जाती है। (कम लोग यह बात जानते हैं कि बुद्ध रोगियों का इलाज भी किया करते थे इसीलिए उन्हें महाभिषक भी कहा जाता है।)

पुत्र शोक में स्त्री लगभग पागल हो चुकी है। वह यह मानती ही नहीं कि उसका बच्चा ठीक नहीं हो सकता। वह बुद्ध और उनके शिष्यों से बहस करती है और लड़ने पर उतारू है कि बुद्ध तो बड़े से बड़ा रोग ठीक कर देते हैं। उनके तो चमत्कार मशहूर हैं फिर वह उसके बच्चे को क्यों नहीं ठीक करते। वह बड़े-बड़े राजाओं और सेठों के घर जाते हैं, उनके दुख दूर करते हैं और मैं गरीब हूँ बस यही बात है – आदि-आदि।

तब बुद्ध उसे समझाने के लिए एक उपाय करते हैं। वे उससे कहते हैं कि बच्चे को ठीक करने के लिए उन्हें राई के दाने चाहिए। लेकिन राई ऐसे घर से माँग कर लाना जिस घर या परिवार में किसी की मृत्यु न हुई हो। कृषा गौतमी घर-घर गई, लेकिन कोई घर ऐसा नहीं मिला जहाँ परिवार में कोई मृत्यु न हुई हो। तब उसे यह बोध हुआ कि मृत्यु से कोई नहीं बच पाता, न गरीब, न अमीर और इसका कोई इलाज नहीं है।

मिया टरमा की सहूलियत के लिए मैंने हिन्दी में छोटे-छोटे वाक्यों के संवाद लिखे थे और उसने बहुत मेहनत से उन्हें याद भी कर लिया था। हिन्दी उच्चारण पर भी उसने बहुत काम किया था।

लेकिन जब वह भावावेश में आती थी तो हिन्दी बोलना भूल जाती और अपनी मातृभाषा बोलने लगती थी। उन क्षणों में वह मिया टरमा नहीं, कृषा गौतमी हो जाती थी। दृश्य खत्म होने के काफी देर बाद तक वह हिचकियाँ लेती रहती थी और उसके आँसू बहते रहते थे। सामान्य होने में उसे समय लगता था।

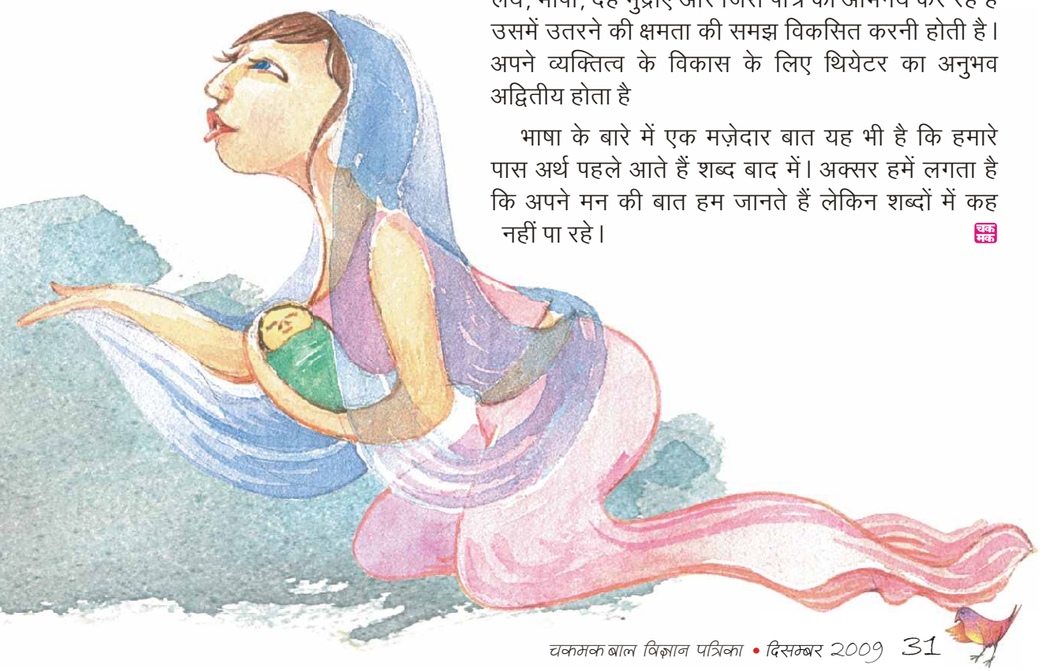

यही वह जादू है जो कलाएँ करती हैं। वे कलाकारों, कवियों, लेखकों और उनके दर्शकों, पाठकों, श्रोताओं का हृदय परिवर्तन कर देती हैं। उन्हें फिर से मनुष्य होने का अहसास कराती हैं। दूसरों के दुख-सुख में दुखी और सुखी होने की क्षमता पैदा करती हैं।

यह घटना भाषा के बारे में हमारे बहुत से पूर्वाग्रहों को तोड़ती है। दरअसल भाषा हमने बोलकर पाई है, लिख कर नहीं। भाषा के अर्थों का बहुत-सा मर्म, खासकर भावनाओं का मर्म, ध्वनियों में, आवाज़ के उतार-चढ़ाव में, बोलने के लहज़े और स्वरों में होता है, शब्दों में नहीं। एक ही वाक्य को कम से कम दस अलग-अलग अर्थों में बोला जा सकता है। यह एक मज़ेदार अनुभव है, लेकिन इसे लिखकर समझाना मुश्किल है। बोलकर ही बताया जा सकता है। हमारा चेहरा, आँखें और देह की मुद्राएँ भी इसमें अपना काम करती हैं।

थियेटर के बारे में एक भ्रान्त धारणा यह भी है कि उसमें मूल अभिव्यक्ति संवादों के माध्यम से होती है। और मेकअप, कॉस्ट्यूम (पोशाक) और सेट निर्माण इसमें ज़रूरी होते हैं। "पुअर थियेटर" के जनक ग्रोटोव्स्की ने इन धारणाओं के विरुद्ध ऐसा थियेटर करके दिखाया जिसमें न पोशाकें थीं, न मेकअप, न सेट और न लाइटिंग यानी रोशनियों का खेल भी नहीं था। लेकिन उसकी प्रस्तुतियों का प्रभाव इतना ज़बर्दस्त होता था कि दर्शक अपनी सुध-बुध खो बैठते थे। भारत में बादल सरकार और प्रवीर गुहा जैसे कई निर्देशकों ने अपने बहुत-से दृश्यों में इस शैली का उपयोग सफलतापूर्वक किया है।

थियेटर एक सम्पूर्ण कला है। इसमें अभिनेता को संगीत, लय, भाषा, देह मुद्राएँ और जिस पात्र का अभिनय कर रहे हैं उसमें उतरने की क्षमता की समझ विकसित करनी होती है। अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए थियेटर का अनुभव अद्वितीय होता है

भाषा के बारे में एक मज़ेदार बात यह भी है कि हमारे पास अर्थ पहले आते हैं शब्द बाद में। अक्सर हमें लगता है कि अपने मन की बात हम जानते हैं लेकिन शब्दों में कह नहीं पा रहे।

चित्र : दिलीप चिंचालकर